बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 22-01-18

श्रम सुधार: अकेला कानून नहीं हो सकता पर्याप्त

ए के भट्टाचार्य

लगता है कि श्रम सुधारों पर हलचल हो रही है। केंद्र और राज्य सरकारें सभी तरह के श्रम सुधारों को आगे बढ़ाने में व्यस्त हैं। लेकिन जिस तरीके से केंद्र और राज्य सरकारें श्रम सुधारों को आगे बढ़ा रही हैं, उनमें कई असमानताएं हैं। उदाहरण के लिए कुछ ही दिन पहले जम्मू कश्मीर की सरकार ने श्रम कानूनों में सुधार की योजना को आगे बढ़ाने की घोषणा की। राज्य सरकार ने 2018-19 के बजट में घोषणा की कि जल्दी ही एक समान रोजगार कानून को अंतिम रूप दिया जाएगा। प्रस्तावित कानून में मौजूदा सभी 260 श्रम कानूनों को समाहित किया जाएगा। जरूरी नहीं है कि इन सभी कानूनों को एक श्रम कानून में बदलने के अपेक्षित परिणाम निकलें जिनमें कामगारों को नौकरी पर रखने और निकालने में लचीलापन, अच्छा वेतन, काम की परिस्थितियों में सुधार और छंटनी की स्थिति में कामगारों को आकर्षक मुआवजा पैकेज शामिल है। इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिए आपको कई मौजूदा कानूनों को मिलाकर एक कानून बनाने के बजाय श्रम कानूनों में विशिष्ट बदलाव करने होंगे।

आदर्श स्थिति में इन बदलावों से यह सुनिश्चित होना चाहिए कि नियोक्ताओं को जरूरत के मुताबिक किसी प्रोजेक्ट के लिए कामगारों को रखने की उतनी ही आजादी होनी चाहिए जितनी कि जरूरत नहीं होने या प्रोजेक्ट पूरा होने के बाद निकालने की। छंटनी पर नियोक्ताओं को वाजिब कीमत चुकानी चाहिए ताकि ऐसा कोई भी फैसला सोचसमझकर लिया जाए। इस तरह की छंटनी में हमेशा प्रभावित कर्मचारियों को उचित मुआवजा मिलना चाहिए। यह साफ नहीं है कि जम्मू कश्मीर सरकार के एकीकृत रोजगार कानून में इन तत्त्वों को शामिल किया जाएगा या नहीं। अगर इन्हें शामिल भी किया जाता है तो भी आप निश्चित तौर पर नहीं कह सकते कि इन बदलावों से निवेश के माहौल में तत्काल कोई ठोस सुधार आएगा। सोचिए कि राजस्थान, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में क्या हुआ जिन्होंने पिछले कुछ वर्षों में जोरशोर से अपने कुछ श्रम कानूनों में सुधार किए हैं। लेकिन अभी इन राज्यों के निवेश के माहौल या फिर श्रम बाजार में इसका असर नहीं दिखाई दिया है। राजस्थान सरकार ने तो 300 से कम कर्मचारियों वाली कंपनियों को छंटनी के लिए सरकार की मंजूरी लेने से भी मुक्त कर दिया है। पहले यह सीमा 100 थी।

लेकिन श्रम सुधारों के बावजूद इन राज्यों को पिछले दो वर्षों में निवेश के जो प्रस्ताव मिले हैं, उनकी कुल राशि में कोई खास बढ़ोतरी नहीं हुई है। यह वृद्घि पूरे देश की रफ्तार से भी कम है। राजस्थान में 2015 की तुलना में 2016 में निवेश के प्रस्तावों की कुल राशि में कमी आई जबकि मध्य प्रदेश में 2017 में यही स्थिति रही।अलबत्ता निवेश प्रस्ताव

के आंकड़ों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा कि देश में निवेश के माहौल की बेहतरी के लिए श्रम कानूनों में सुधार की जरूरत नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि केवल श्रम कानून में सुधार से ही निवेश का प्रवाह बेहतर नहीं हो सकता है। कई दूसरे अहम कारक भी निवेश बढ़ाने में सहायक हैं। इनमें कुशल श्रमिकों की उपलब्धता, मजबूत बुनियादी ढांचा और वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए बढ़ता बाजार शामिल है।इस बात को भी नजरअंदाज किया गया है कि सुधारों को अपना चुका श्रम बाजार एक समय के बाद ही ज्यादा निवेश प्रवाह आकर्षित कर सकता है। इतना ही नहीं, सुधारों से अपेक्षित परिणाम हासिल करने में श्रम कानून में सुधारों का क्रियान्वयन और प्रशासनिक दक्षता की स्थिति की भी अहम भूमिका है।

इसलिए यह संभव है कि एक अंतराल के बाद आने वाले वर्षों में इन तीन राज्यों में निवेश के प्रवाह की स्थिति में सुधार आए और खासकर जब सुधारों को लागू करने वाली राज्य की मशीनरी ज्यादा कारगर बने। राजस्थान और मध्य प्रदेश की तुलना में महाराष्ट्र बेहतर प्रदर्शन कर सकता है क्योंकि उसके पास बेहतर बुनियादी ढांचा और दक्ष मानव संसाधनों की उपलब्धता है।यह देखना भी अहम है कि कुछ राज्य श्रम कानून सुधारों को आगे बढ़ा रहे हैं जबकि केंद्र सरकार ने थोड़ा अलग रास्ता अख्तियार किया है। मई 2014 में नरेंद्र मोदी सरकार बनने के कुछ ही दिन बाद चार श्रम कानून बनाने की योजना बनाई गई थी। ये औद्योगिक संबंध, वेतन, सामाजिक सुरक्षा और औद्योगिक कल्याण से संबंधित थे। इन कानूनों में मौजूदा सभी 46 श्रम कानूनों को समाहित किया जाना था। लेकिन यह प्रस्ताव ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाया है। साथ ही 500 से कम कर्मचारियों वाली कंपनियों में सरकारी मंजूरी के बिना छंटनी की अनुमति देने वाला प्रस्ताव भी फिलहाल ठंडे बस्ते में है।मोदी सरकार ने कानून में बदलाव के लिए संसद का लंबा घुमावदार रास्ता अपनाने के बजाय कामगारों के लिए नियामकीय ढांचे में ज्यादा बुनियादी बदलाव किया है। अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में तय अवधि के लिए रोजगार के बारे में मसौदा अधिसूचना पहले ही जारी की जा चुकी है और अगर कोई आपत्ति नहीं आई तो 8 फरवरी को इसे अधिसूचित किया जा सकता है।

ऐसे तय अवधि के रोजगार की पेशकश की जा सकती है, बशर्ते इस तरह के कामगारों को स्थायी कर्मचारियों के समान वेतन और दूसरे अधिकार मिलें। यह सही है कि तय अवधि के कामगारों का शोषण होने की गुंजाइश सीमित है, फिर भी केंद्र ने इस बदलाव के जरिये कामगारों को निकालने का रास्ता साफ किया है। यह सबकुछ कानून में बदलाव के बिना किया गया। सरकार अब अनुबंध रोजगार के नियमों के संशोधन की तैयारी कर रही है जिससे संविदा पर काम करने वाले कामगारों को किसी कंपनी में मुख्य काम करने की अनुमति मिल जाएगी। इससे भी देश के श्रम बाजार में लचीलापन आएगा।इन कदमों से दो चिंताएं भी सामने आई हैं। पहली यह कि श्रम कानून में सुधारों के लिए राज्यों और केंद्र का रास्ता अलग-अलग है जिससे शायद अर्थव्यवस्था में अधिकतम परिणाम हासिल नहीं किए जा सकते हैं। दूसरी चिंता यह है कि श्रम बाजार को संचालित करने वाले नियमों में बदलाव के लिए संसद को नजरअंदाज करने की कोशिश स्थायी रणनीति नहीं है। लंबी अवधि में इसके विपरीत परिणाम हो सकते हैं।केंद्र और राज्यों के लिए बेहतर यही होगा कि वे मिलबैठकर श्रम कानूनों के लिए जरूरी सुधारों पर सहमति बनाएं। इसमें वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) का मॉडल अपनाया जा सकता है। अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग तरीके अपनाने के बजाय एक सहयोगात्मक दृष्टिकोण से श्रम कानूनों में सुधार के लिए बेहतर परिणाम हासिल किए जा सकते हैं जिन्हें पूरे देश में लागू किया जा सकता है। इससे सरकारों को मजदूर संगठनों को मनाने में भी मदद मिल सकती है और वे उन्हें इन सुधारों के फायदे गिना सकते हैं।

THE TIMES OF INDIA

Date: 22-01-18

Take the next leap

To overcome the crisis that besets Indian higher education today, leapfrog to Education 4.0

Debashis chatterjee, [The writer is Director General of IMI Delhi.]

On his recent visit to India, Bill Gates described Indian education as one of the disappointing features of this country. And the ASER report released last week indicates that secondary education fails to impart basic skills to Indian students. Indian gurus have gone global but our gurukuls have remained wrapped in the cobwebs of time. Indian doctors are considered among the best in the world, yet Ayurveda occupies a small niche in global healthcare in the category of alternative medicines.If the Greeks had their gymnasiums, India had her ashrams. Why have the gyms far outnumbered ashrams in the modern world? Ustad Zakir Hussain is teaching students to play the tabla at Stanford. Yet, the tabla has not attained the global popularity of the modern drum as a percussion instrument. In the land of Nalanda and Takshashila, in a nation touted as vishwa-guru, foreign students coming to India's higher education centres have come down from the projected 5 million to a trickle of less than 40,000 students in the last 3 years.

India's extraordinary knowledge systems and institutions of learning can be on the global stage if only we were better organised to adapt to the 4.0 world where learning has moved from hardware to software and is finally everywhere. Education 4.0 is about flexpertise – teaching expertise that is flexible enough to adapt to different learning styles and needs of the contemporary world.Blended learning that uses both technology and face time between teacher and students will come into play as the dominant pedagogy. Learning will move from painful data dumping to the quest for creativity, collaboration, problem solving ability, higher order thinking and the sheer joy of discovery. Learning 4.0 is no longer just about cognition in a classroom, it is about total immersion of the learner in real life situations. Ananda or delight, which is the Eureka moment or touchstone of all peak learning experiences, will have to be created in our learning spaces.

Two stubborn assumptions about education have been seriously challenged in the 4.0 world of digitised, open source, globalised and personalised learning. The first assumption is that learning is a function of place (building) rather than space (psychological). The second assumption is that learning is a function of time (period) rather than attention. Education 4.0 is about asynchronous (anytime) and digitally dispersed (anywhere) learning. Yet, our universities and schools are stuck in the designs of the past. They

perpetuate factory like classrooms, rows and rows of chairs, the ubiquitous clocks and bells – all of which remind us of Industrial Age learning behaviour.Universities in India are more territorial than universal. It is difficult for students from one Indian state to get admission in a university of another state. The affiliation system of universities have killed autonomy of institutions. The education regulators UGC and AICTE still continue to be fixated on land size, laboratories, library buildings and lecture hours.

Well-intentioned regulations end up becoming like mouse traps or thief catching devices. They choke, as it were, the life out of quality education processes. Regulators end up being strangulators. Academic bodies obsessed with fixing the curriculum rarely pay attention to the informal curriculum consisting of spontaneous conversations and learning outside the classrooms.Let us look for solutions. Quality rather than just qualified educators have to be identified from a large cross-section of Indian society. Education, like healthcare, should be seen as a vocation rather than a career. The salary of quality primary teachers should be equal to if not more than clerks and plumbers in our society.

A vast majority of Indian teachers are not exposed to new age learning and teaching methods. We need globally networked learning hubs rather than anachronistic BEd colleges that churn out these teachers. Education 4.0 is about accelerated and personalised learning rather than high handed teaching. Teachers have to evolve from being ring masters to Zen masters who would enlarge the horizons of knowing. Know-ability will have to displace knowledge reproduced from memory banks. Incumbent university structures will have to yield space and legitimacy to insurgent Khan Academies and Super 50s.Branding of Indian education is also about imbibing the consistency of our perennial human values in an inconsistent world. The values of truth (satyam), sustainaibilty (nityam) and wholeness (purnam) have deep connects with the modern world. Education 4.0 will cease to promote narrow competitive instinct through marks and remarks. This is the same instinct inculcated in the colonial education culture for years that have bred parochial and self-seeking leaders of today's India. We have to transcreate rather than translate our sacred texts for a new generation of learners.

Our gurukuls have to be laboratories of living questions rather than ossified fortresses of answers. The classical Upanishads and the Bhagwad Gita were nothing but insightful, open-ended conversations and questions about reality and our place in the universe. Education 4.0 will be an experiential continuum between our expanding self and the larger universe: between jivatma and jagat. Our educators have to be rooted in the conviction that they can shape the future of the world through their students. Teachers will begin to see the linkage between inner transformation of students and the broader societal change taking place in India.These may look like the stuff of dreams in the present Indian educational context. Yet, one cannot but wonder: where have our great dreamers gone?

Date: 22-01-18

What lies beneath

Citizens are sold technocratic quick fixes without solving underlying problems

TOI Editorials

India once used to be Luddite country, hating technological solutions. Now, however, the pendulum may be swinging too far in the other direction. Technology can certainly bring about quantum jumps in service delivery. But it is no substitute for accountability and humaneness which ultimately connects governments to people. Take the case of two road accident deaths in western UP. A '100' helpline call to rescue two schoolboys helped summon three cops, but they refused to ply the injured to hospital and soil their Toyota Innova. Policing has come a long way with technology driven helplines and swanky official vehicles. But imperious attitudes to distressed citizens aren't changing.

Such callousness abounds even as the Union road transport ministry is prodding states to enforce GPS-based location tracking and panic buttons in taxis and buses by April 1. Commuters have a tough time persuading auto rickshaws to operate on metered fares. So one certainly shouldn't hold one's breath that those GPS kits and panic buttons will be fitted and operational. And even if they are, will there be anybody at the other end to respond to a panic button being pressed? Control rooms are needed to monitor panic calls and police must be mobilised. Police reforms are needed to institute effective policing. Recruiting more constables to police streets, separating crime investigation from law and order duties, and improving response times and protocols are all imperative.

Technology cannot improve public trust in institutions without accountability. Even Delhi government's plan to install CCTV cameras in classrooms and allow parents to watch their children over the internet is in line with this sarkari neo-populism. Making CCTV images generally available could promote voyeurism and make children more vulnerable to stalkers. Parents send children to schools trusting institutional frameworks that give principals and teachers absolute control over school and classrooms. Governments can conduct routine inspections to identify wayward teachers, check learning outcomes and ensure safety of students.

Mobile apps are no replacement for beat constables on streets, teachers in classrooms and support staff on campus. Equally important is a foolproof system of supervision that institutes accountability. Otherwise CCTVs and panic buttons will fall through the cracks of imperfect structures, perhaps even amplifying their defects. Expensive technology is not going to bell this cat. What is needed is to build accountability into our institutions, not escape it and pass the buck.

Date: 22-01-18

Profit and loss

AAP stumbles on Parliament secretaries, needs to redefine its politics

TOI Editorials

Arvind Kejriwal's Aam Aadmi Party (AAP) faces perhaps its biggest political challenge, as the President has accepted Election Commission's (EC) recommendation to disqualify 20 AAP MLAs for holding offices of profit. All eyes will be on the Delhi high court where a petition filed by some disqualified AAP MLAs will come up for hearing today. There appears to be no major threat to Delhi's AAP government as the party had won a massive 67 out of 70 seats in February 2015 elections. However, if and when bypolls are

conducted for those 20 seats, it would amount to a mini-referendum on AAP's performance which has been lacklustre so far.

An AAP argument is that other states like Rajasthan, Karnataka and Telangana assemblies too have Parliament secretaries, who haven't been disqualified. That is certainly a dodgy practice on the part of other states as well. But legally they appear to be in the clear, as this particular designation has been kept outside the purview of office of profit in these states. In AAP's case, they made the appointments in March 2015 and later sought to exempt them by amending the Delhi Members of Legislative Assembly (Removal of Disqualification) Act, 1997 in 2016. This Bill was struck down by then President Pranab Mukherjee and the Delhi high court cancelled these appointments in 2016. That is AAP's problem, besides damaging its claim that it functions differently from other parties such as BJP and Congress.

AAP also has a problem with internal dissensions, as many senior leaders are still smarting at Rajya Sabha tickets being handed out to so-called outsiders. Right from hiking salaries of MLAs by a whopping 400% to candidate selection for Rajya Sabha to its stance on office of profit, AAP's moral high ground stands undermined. It would serve AAP well to introspect on how they have strayed from their lofty ideals of changing the fundamentals of doing politics in the country.

Date: 21-01-18

In the age of anger, stop thinking your way of life is superior

Gurcharan Das is a former CEO of Procter & Gamble India.

My neighbour makes resolutions diligently each New Year's Day and breaks them promptly before January is out. We usually meet in the first week of the year to exchange our resolutions but as I was away in Myanmar this year, we could only meet this week, when my wife asked him politely over a mug of masala chai: 'So tell us, what resolutions do you intend to break this year?' My neighbour is adept at stepping over the minefield of my wife's bon mots and confessed that one of his resolutions was to be less angry over politics and religion.

We live in an 'Age of Anger', according to Pankaj Mishra in an insightful book with the same title. The resurgence of nationalist political movements has polarised the world, including India. We are experiencing endemic violence, fuelled by hatred towards minorities and a toxic form of nationalism. It is not only the right that is angry but the left has also lost its sanity at the loss of its privileges. The violence of rightwing extremists is matched by the arrogance of the liberals, who in the name of tolerance behave just as intolerantly towards those whose beliefs differ from theirs. The fault lies on both sides and one of Narendra Modi's best resolutions for 2018 should be to heal the divide, bring more equipoise to social media, and make our lives calmer by returning to a more civil political discourse.

India today is a troubled and discontented nation. The intelligentsia is angry at Modi for trying to turn India into a Hindu Pakistan. The left has still not got over his victory in 2014 and finds it galling that he continues to remain popular with no alternative in sight in 2019. Hindus are angry because they are made to feel ashamed of their Hindu identity. Muslims feel insecure by persistent assertions of Hindutva. Dalits and lower OBCs are angry because they feel humiliated and excluded by the BJP's upper-caste

prejudice. The middle classes are angry because India's policies have left us far behind East and Southeast Asia. Underlying these realities is a resentment of India's English-speaking elites who have cornered 'modernity's choicest fruits'. The dispossessed are angry because Modi has failed to deliver the promised jobs and achhe din. All these angers find a ready tool in assertions of identity — the agitations of the Patidars in Gujarat, Jats in Haryana, Gujjars in Rajasthan, Kapus in Andhra, and Ahoms in Assam are symptoms of this.

Anger usually contains an implicit wish for some kind of revenge, a desire that the wrongdoer suffer. This is, of course, irrational for the wrongdoer's suffering cannot cancel or undo the suffering, as Martha Nussbaum explains in her recent book, Anger and Forgiveness. The answer to anger is either to 'laugh at itself till it goes away' or find a leader with 'compassionate hope' like Mahatma Gandhi, Martin Luther King, or Nelson Mandela, who can teach people the value of forgiveness. Resisting anger, Nussbaum thinks, is a mark not only of our humanity, but of our sanity. Although she writes about the US, her arguments apply equally to India, also an 'aspiring society'. The only benefit of political anger, it seems, is to make us go out and vote.

What then is the right response to the politics of anger? Yudhishthira's answer in the Mahabharata was forgiveness — his character was influenced by the deeds of Ashoka Maurya — and the starting point for both was tolerance. Not only must believers tolerate each other's different beliefs, but also the atheism of non-believers. Disbelieving secularists must value the convictions of religious citizens and stop seeing India's politics only through the lens of Hindu hatred for Muslims. By treating Hindus condescendingly, they reinforce resentment and throw them deeper into Hindutva's embrace. Above all, everyone must suspend the belief that their way of life is superior. Modi must remain single-mindedly focused on creating jobs while showing zero tolerance for any act of communal violence — he must condemn lynching instantly.As my neighbour got up to leave, he asked my wife what lessons could India learn from a Buddhist country like Myanmar about controlling anger. They too are angry over the Rohingya, she replied, but they are constantly reminded of what Buddha said: You will not be punished for your anger, you will be punished by your anger.

Date: 21-01-18

Best way to beat pollution? Let every city get a 'Central Park'

Gautam Bhatia , [The writer is a Delhi-based architect]

If you look down from a plane over midtown Manhattan, you'll see that the geometric disembowelling of the city's centre is so severe it looks like a surgical incision from which concrete has been deftly cut away. In Central Park the ground is so lush, rock escarpments so rough, and forests so densely wooded, their containment within the surrounding 60-storeyed buildings lends a strange manic intrusion to the rectangle of green. For a place so hyperactive in manmade construction, nature has been made equally overpowering — a place of extremes. To offset the adverse effects of pollution and overpopulation, similar forms of extreme opposites need to be practised in Indian cities. They are the densest, most heavily populated conglomerations in the world. Only Tokyo has a higher population, and Hong Kong a greater density; there however, air quality, vehicle numbers, and industrial effluents are kept in check by stringent norms and innumerable regulations. Indian municipal authorities are incapable of legislating

urban anti-pollution norms,nor is the city resident likely to follow them if they were ever to come into effect. In view of this growing complacency in enacting ideas on public health, the city needs an effective natural barrier.

With tree cover in most Indian cities depleting by almost 20% over the last decade, greening them is no longer a civic, but an environmental imperative. The tendency to litter the city with useless decorative roundabouts, vacant lawns, grassy berms and paved plazas contributes nothing to the well-being of the resident. There is little need for parks when pollution levels don't allow their use. To increase the vegetation in the city's densest and most visible pockets of habitation, the transformation of inactive public space into biological reserves should be implemented without delay. Moreover, for such an initiative to be truly effective it must take place — like New York's Central Park — in the most public arenas of the city.Like most cities in the world, the Indian city is organised in cohesive centres and radiating laterals: commerce and legislature at the centre, and a linear organisation along rivers. An action plan should take ten of the country's biggest, most polluted towns and germinate precise markers in each.

In Delhi, it could begin along the mile-long acreage at the Central Vista below the Secretariat, with a circular plantation at Connaught Place, and elongated greening on the banks of the Yamuna. A concern for both visibility and centrality would do the same with Bengaluru's Brigade Road and the adjacent maidan; another forest in the arc of Mumbai's Marine Drive and the commercial stretch from Colaba to Churchgate. Ahmedabad's Sabarmati, cutting through the heart of the city, would similarly gain from a forest along its concrete embankments. So too, around the lakes in Chandigarh and BhopalThe greening has to become quite literally a forest of a primeval order. Not the regulated rows of conscious plantations, but a graded value of plant and tree cover that naturally inhabits local ecology — an ancient archaic wood, with a rich undergrowth of plant and insect life that overwhelms and creates its own impenetrable biology. (What to say of the added advantages of increased ground percolation and water retention.) If it happens, it would require municipal governments to take no action on curbing vehicles, no switching to bio-fuels, no need to get more electric buses or improve public transportation or act on illegal industries, or in fact make any of the serious concessions that inconvenience the public. Nature would be called upon to act on behalf of government and citizens.

Only recently Sadhguru Jaggi Vasudev initiated the idea of greening the banks of Indian rivers — an attempt to increase water flow and preserve embankments. The gargantuan task was presented to Prime Minister Modi. A project of such heroic dimensions obviously needs careful deliberation before it is implemented. The making of city forests, however, can be done immediately by municipal decision, and its effects felt within a few seasons. The bigger problem would be logistical and bureaucratic. Greening comes under the department of forests; roads and highways is a separate bureau, public works, another. To forge unlikely alliances between departments may be the only way to enact a civic transformation.Sadly, the Indian city is not known for adopting original ideas: the BRT was of Colombian origin, Metro's tunnel technology was Swiss, the electric car, Japanese. The city's current tenuous state of survival, and a history of Western hand-me-downs itself, now must force radical positions and imaginative Indian solutions. With an apathetic public and an indifferent government, the only hope lies in nature providing its own answer.

दैनिक जागरण

Date: 21-01-18

हितों के टकराव और नैतिकता

वरुण गांधी (सांसद, भाजपा)

साल 1990 की बात है. पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर के प्रमुख सचिव रहे बीजी देशमुख ने प्रधानमंत्री से पूछा था कि क्या वह सेवानिवृत्ति के बाद एक बड़ी निजी कंपनी में नौकरी कर सकते हैं- उन्होंने दशकों सरकारी नौकरी की थी और चाहते थे कि इजाजत मिल जाये, तो अब बाहर निकलकर कॉरपोरेट भूमिका निभाएं. दरअसल, हितों के टकराव के मुद्दे को स्वाभाविक रूप से भ्रष्टाचार से जोड़कर देखा जाना चाहिए. पश्चिमी देशों में हितों के टकराव का मतलब सरकारी अधिकारियों द्वारा निजी लोगों के पक्ष में अधिकारों का दुरुपयोग करना है (टिम लंकास्टर, ओईसीडी, 2007). ब्रिटेन के इतिहास में लंबे समय से शासक और उसके अधिकारियों में हितों का टकराव व्यापक स्तर पर फैला था- हर कोई मानकर चलता था कि नेता अपनी स्थिति का लाभ उठायेगा. साल 1660 में महान वृत्तांतकार और सुधारवादी रॉयल नेवी के लिए काम करनेवाले सैमुअल पेपीज पर भी आरोप लगा कि वह तस्करी में शामिल थे. हालांकि समय के साथ हालात में बदलाव आया. स्वतंत्र न्यायपालिका की मौजूदगी में प्रभावशाली मीडिया ने कार्यपालिका की शक्ति और इसके संभावित दुरुपयोग पर लगाम लगायी. शिक्षा के प्रसार ने लोगों को उनके अधिकारों को लेकर ज्यादा जागरूक किया और राष्ट्रीय ऑडिटर दफ्तर की स्थापना ने सरकार में भ्रष्टाचार पर रोक लगायी है. बीसवीं सदी आने तक भ्रष्टाचार में काफी कमी आयी. दूसरी तरफ

पूर्वी गोलार्ध के देश जापान में 'अमाकुदारी' सिस्टम है, जिसमें सिविल सेवा से वरिष्ठ अधिकारी की सेवानिवृत्ति के बाद उन्हें उनके कार्यकाल में की गयी 'कड़ी मेहनत' के एवज में निजी सेक्टर में आरामदायक पदों पर बिठा दिया जाता है| अमेरिका में निर्वाचित राष्ट्रपति को (मौजूदा राष्ट्रपति के हितों के टकराव का मामला फिलहाल छोड़ दें) सैद्धांतिक रूप से अपना निवेश अज्ञात ट्रस्ट में रखना होता है| इसमें उनकी जीवनभर की कमाई एक ट्रस्ट में रहती है और राष्ट्रपति के पद छोड़ने तक एक अजनबी द्वारा इसका प्रबंधन किया जाता है| हमारे यहां पता नहीं कहां से यह परंपरा बन गयी है कि कुछ नौकरशाह नीतियां बनाने और उन्हें लागू करने में कारोबारियों का पक्ष लेते हैं और फिर सेवानिवृत्त होने के बाद उन्हीं कंपनियों में नौकरी कर लेते हैं| और जब व्हिसल ब्लोअर सवाल पूछते हैं, तो 'विकास-विरोधी' और 'निवेश-विरोधी' कहकर उनको निशाना बनाया जाता है|

भारत में किसी नौकरशाह का नियामक के तौर पर काम करना और फिर उसका उसी क्षेत्र की कंपनियों के बोर्ड में शामिल हो जाना एक सामान्य बात है| हमारे पास कार्मिक मंत्रालय द्वारा नियंत्रित एक आधिकारिक नीति है, जिसके अनुसार वरिष्ठ नौकरशाहों को सेवानिवृत्ति के बाद व्यावसायिक नौकरी करने से पहले अनुमति लेनी होती है- हालांकि कूलिंग-ऑफ पीरियड में ऐसी अनुमति किसी संहिताबद्ध व्यवस्था के अभाव में मुख्यतः सरकार के विवेकाधिकार पर निर्भर करती है| पूर्व में सरकार ने ऐसे आवेदनों पर उदार रवैया अपनाया है| उदाहरण के लिए एक पूर्व राजस्व सचिव को, एक

नहीं बल्कि पांच-पांच कंपनियों में अलग हैसियत से पद संभालने की अनुमति दी गयी| एक पूर्व ट्राई (टेलीकॉम रेगुलेटरी अथॉरिटी ऑफ इंडिया) प्रमुख को सेवानिवृत्ति के चंद महीनों के भीतर ही एक कुख्यात कॉरपोरेट लॉबीइस्ट द्वारा शुरू की गयी फर्म ज्वॅइन करने की अनुमति दी गयी| एक केंद्रीय वित्त सचिव ने जब एक भारी-भरकम पैकेज पर ऑटोमोबाइल कंपनी ज्वाॅइन की, तो इससे शक पैदा हुआ कि यह भुगतान उनकी योग्यता से ज्यादा उनके प्रभाव के चलते दिया गया| यह गलत नहीं है अगर तजुर्बेकार नौकरशाहों की महारत को निजी क्षेत्र में इस्तेमाल करने दिया जाता है| दरअसल, एक तरफ राजनेताओं को चुनावी टेस्ट से गुजरना होता है, उनको निजी क्षेत्र में नौकरी की अनुमति दिये जाने पर जनता इनको खारिज कर सकती है, लेकिन दूसरी तरफ नौकरशाहों पर ऐसा कोई दबाव नहीं है|

ऐसा कानून बनाना चाहिए, जिसमें हितों के टकराव के बारे में नहीं बताया जाना दंडनीय अपराध हो| ईएमएस नचिप्पन का प्राइवेट मेंबर बिल (2012) कहता है, कानून के दायरे में न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका समेत प्रशासन की सभी शाखाएं शामिल की जानी चाहिए| कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग परस्थायी संसदीय समिति (रिपोर्ट संख्या-60, 3 मई, 2013) की रिपोर्ट में सुझाव दिया गया था कि किसी पर सेवानिवृत्ति के बाद हितों के टकराव का आरोप साबित हो जाये, तो उसे नौकरी से हटा दिया जाये| इस सुझाव को लागू करना जरूरी है| अनिवार्य कूलिंग-ऑफ पीरियड को पांच साल किया जाना जरूरी है, ताकि सेवानिवृत्त नौकरशाह द्वारा अनुचित असर न डाला जा सके| निजी कंपनी से जुड़ने के आवेदन को खारिज किये जाने पर कारण भी स्पष्ट बताये जाने चाहिए| सरकार द्वारा निजी क्षेत्र के विशेषज्ञों को नौकरशाही में लिए जाने के मामले में भी यही नियम पालन किया जाना चाहिए| ऐसा न करने पर अमेरिका जैसा हाल होगा, जहां हर काम के लिए लॉबीइस्ट रखनेवाली कंपनियों के काम को, उनकी तुलना में जो लॉबीइस्ट नहीं रखते, जल्दी मंजूरी मिल जाती है| इन सबके साथ पारदर्शिता की परंपरा भी स्थापित करनी होगी| सिर्फ संसदीय प्रतिनिधियों के लिए, जनता की पहुंच से दूर, एक रजिस्टर बना देना ही काफी नहीं है| नौकरशाह- सेवा में हों या सेवानिवृत्त- को अपनी सेवानिवृत्ति के बाद की योजनाओं के बारे में सार्वजनिक रूप से बताना होगा|

उनके द्वारा अपने हित की सार्वजनिक घोषणा किये जाने से स्थिति साफ होगी, जिससे उनके नजरिये को ठीक से समझा जा सकेगा| सबके लिए खुला, सार्वजनिक रूप से उपलब्ध डाटा प्लेटफॉर्म पर सिविल सेवा के बाद किये जानेवाले काम का ब्योरा उपलब्ध होने से पारदर्शिता बढ़ेगी| अगर हम कॉरपोरेट जगत पर हितों के टकराव, उपभोक्ता निगरानी व्यवस्था, क्रेडिट रेटिंग एजेंसी के मार्फत निगरानी रखते हैं, तो यही चीज प्रशासन में भी लागू हो| हमें व्यावसायिक हितों में स्वच्छता लानी होगी, अधिकाधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति छोड़नी होगी और ऐसे हितों के टकराव पर नैतिकता को प्राथमिकता देनी होगी| सोच में ऐसे बदलाव के बिना भारत के समाज, प्रशासन और निजी क्षेत्र को भीतरघात से कभी आजादी नहीं मिल सकेगी|

Date: 21-01-18

जेंडर बजटिंग फॉर्म्युला बनेगा देश का टॉनिक

रमेश तिवारी

देश में यह बात अब अच्छी तरह समझी जा रही है कि महिलाओं के आर्थिक विकास का देश के आर्थिक विकास से सीधा नाता है। यह बात तो काफी पहले से समझी जाती रही है कि देश के आर्थिक संकट का प्रभाव पुरुषों से ज्यादा महिलाओं पर पड़ता है। लेकिन देश के बजट का पुरुषों और महिलाओं पर किस तरह अलग-अलग असर पड़ रहा है, इसे बताने वाली जेंडर बजटिंग की प्रक्रिया ज्यादा स्पष्ट और दमदार बनाने की जरूरत महसूस की जा रही है।लैंगिक असमानता दूर करने के लिए पूरी दुनिया में जेंडर बजटिंग को एक सशक्त माध्यम समझा जाता है। यह महिलाओं के लिए अलग बजट नहीं है। इसके जरिये सरकारी बजट को इस खांचे में फिट करके देखा जाता है कि क्या इसका लाभ पुरुषों और महिलाओं, दोनों तक पहुंच पाया। भारत की आबादी का लगभग आधा हिस्सा महिलाओं का है, लेकिन स्वास्थ्य, शिक्षा, आर्थिक अवसर आदि मानकों पर वे पीछे रह जाती हैं। संसाधनों तक महिलाओं की पहुंच कमतर होने के कारण उन पर विशेष ध्यान दिए जाने की जरूरत है। प्राइमरी स्कूलों में लड़कों के मुकाबले लड़कियों के ड्रॉपआउट रेट को अलग-अलग देखना होगा। अगर ड्रॉपआउट की दर में बैलेंस के लिए सरकारी बजट की ओर से कोई विशेष कोशिश होती है तो वह जेंडर बजटिंग का हिस्सा माना जाएगा।

जेंडर बजटिंग को महज बही-खाते तक सिमटाए रखने की जगह नीतियां बनाने, उन पर अमल करने और दोबारा गौर करने के दौरान इसे लगातार शामिल रखना होता है। जानकार बताते हैं कि पड़ोसी देश बांग्लादेश में इस सिद्धांत को अच्छी तरह लागू किया जा रहा है। वहां राष्ट्रीय बजट को मीडियम टर्म बजट फ्रेमवर्क के आधार पर तैयार किया जाता है और जेंडर बजटिंग इस फ्रेमवर्क का हिस्सा है। सारे खर्चों को अलग-अलग बांट कर देखा जाता है कि इसमें कितना हिस्सा महिलाओं को फायदा पहुंचाएगा। बजट के साथ ही जेंडर बजट रिपोर्ट भी पेश की जाती है।भारत में 2001 के बजट भाषण में तत्कालीन वित्त मंत्री ने जेंडर बजटिंग का जिक्र किया था। फिर मंत्रालयों की सालाना रिपोर्ट में इस मुद्दे को शामिल किया जाने लगा। जेंडर बजट के प्रकोष्ठ बने हैं। 2005-06 से वित्त मंत्रालय के बजट सर्कुलर के एक हिस्से के तौर पर जेंडर बजट पर नोट जारी किया जाने लगा। 2013 में राज्यों के लिए रोडमैप की गाइडलाइंस भी जारी की गईं। 16 से ज्यादा राज्यों में इसे अपनाया गया है।

महिला अधिकारों से जुड़े लोगों का मानना है कि भारत में हर विभाग के जेंडर बजट का डेटा अब भी साफ नहीं है। एक रिपोर्ट में दावा किया गया है कि केंद्र सरकार ने 2017-18 में 31390 करोड़ रुपये उन स्कीमों को दिए, जो महिलाओं के लिए थीं। लेकिन विरोधियों का कहना है कि इसमें से 23 हजार करोड़ रुपये तो अकेले प्रधानमंत्री आवास योजना में दिए गए, जो सिर्फ महिलाओं की योजना नहीं है। यह भी शिकायत है कि जेंडर बजटिंग के लिए महिला और बाल विकास मंत्रालय नोडल एजेंसी है, लेकिन उसे इतने अधिकार नहीं दिए गए कि वह जेंडर बजटिंग को अपने असली रूप में लागू कर सके। पिछले बजट में मंत्रालय का आवंटन बढ़ा था, लेकिन इस बढ़ोतरी को कुल व्यय का महज 1 फीसदी हिस्सा आंका गया। सभी मंत्रालयों को मिलाकर जेंडर बजट 5 फीसदी होने का अनुमान है। बजट में जो टैक्स छूट दी जाती है, उसमें जेंडर के आधार पर प्राथमिकता देश में बड़ी जरूरत समझी जाती है। प्रॉपर्टी में निवेश पर लैंगिक आधार पर टैक्स छूट मिले तो इससे महिलाओं के अधिकार बढ़ेंगे।